सितंबर १९९५ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

उद्‌बोधन

मेरे प्यारे साधक साधिकाओ!

अपरिमित ब्रह्मविहारों का अभ्यास करना चाहिए।

अपरिमित **मैत्री** ब्रह्मविहार का अभ्यास करना चाहिए। अपरिमित **करुणा** ब्रह्मविहार का अभ्यास करना चाहिए। अपरिमित **मुदिता** ब्रह्मविहार का अभ्यास करना चाहिए। अपरिमित **उपेक्षा** ब्रह्मविहार का अभ्यास करना चाहिए। चारों अपरिमित ब्रह्मविहारों का अभ्यास करना चाहिए।

चारों अपरिमित ब्रह्मविहारों के अभ्यास का एक सरल तरीका है – महाफलदायी त्रिकालिक त्रिविध परिशुद्ध दान।

दान कैसे त्रिकालिक परिशुद्ध होता है?

जब दायक का चित्त दान देने के पूर्व, दान देते समय और दान देने के पश्चात असीम प्रीति-प्रमोद से ओतप्रोत रहता है, तब दान त्रिकालिक परिशुद्ध होता है।

दान कैसे त्रिविध परिशुद्ध होता है?

जब दान देने वाला उदात्त चित्त-संपन्न हो; जब दान लेने वाला शुद्ध शील-संपन्न हो; जब जो कुछ दान दिया जा रहा है, वह परिमाण में चाहे थोड़ा हो या बहुत; कीमत में भी चाहे थोड़ा हो या बहुत, परंतु हो शुद्ध; याने अपनी मेहनत की, ईमानदारी की, सम्यक आजीविका की कमाई का हो, तो दान त्रिविध परिशुद्ध होता है।

त्रिकालिक त्रिविध परिशुद्ध दान महाफलदायी होता है।

ऐसा दान ब्रह्मविहार के अभ्यास का कारण कैसे बन जाता है?

तब बन जाता है जब कि दान में दी गयी वस्तु अथवा स्थान अथवा सहूलियत किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही न हो बल्कि समस्त भिक्षुसंघ के लिए हो, समस्त श्रावकसंघ के लिए हो, समस्त साधकसंघ के लिए हो। सार्वजनीन हो। सबके हित-सुख के लिए हो।

ऐसे दान के कारण दायक का चित्त यह सोच कर अपरिमित **मैत्री** से भर जाता है कि मेरे इस दान से अनगिनत लोग सुखलाभी हो रहे हैं या होंगे; धर्मलाभी हो रहे हैं या होंगे।

उसका चित्त अपरिमित **करुणा** से भर जाता है कि संसार में कितने लोग दुखियारे हैं जिन्हें कि इस दान से दुख-विमुक्ति मिलेगी, सुखलाभ मिलेगा, धर्मलाभ मिलेगा।

उसका चित्त अपरिमित **मुदिता** से भर जाता है कि अहो! मेरे इस दान से कितने लोग सुखलाभी, धर्मलाभी हो कर प्रसन्न हो रहे हैं, मुदित हो रहे हैं।

उसका चित्त अपरिमित **उपेक्षा** से भर जाता है कि मेरे इस दान की कोई प्रशंसा करे या निंदा, मुझे इससे यश मिले या अपयश, इनसे मुझे सरोकार नहीं है। अपनी निज-प्रशंसा या यश-अपयश के लिए मेरा यह दान नहीं है। शुद्ध धर्मचेतना से दिया हुआ यह दान तो मात्र परहित के लिए ही है।

इस प्रकार साधको! परिशुद्ध दान द्वारा चारों ब्रह्मविहारों का अभ्यास किया जाता है।

साधको! अपरिमित ब्रह्मविहारों का अभ्यास करना चाहिए।

अपरिमित ब्रह्मविहारों का अभ्यास हमारे लिए अतीव मंगलदायी है, कल्याणदायी है।

कल्याणमित्र,
स.ना.गो.

[नए साधकों के लाभार्थ 'विपश्यना' वर्ष १, अंक ९ का पुनर्मुद्रण]

दान-कथा

शुद्ध धर्मचेतना से दिया गया दान महाफलदायी होता है जो कि हमारे रोगी चित्त को निरोगी बनाता है। कृपणता, कठोरता, कटुता, स्वार्थपरता, संकुचितता और नीरसता से भरे हुए चित्त को उदार, मृदुल, कोमल, सौम्य, विशाल, परमार्थी और सरस बनाता है। यही तो चित्त की स्वस्थता है।

दान देना गृहस्थों का बुनियादी धर्म है। इस देश की प्राचीनतम धार्मिक परंपरा में सदा से दान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। अतीत काल में सभी धन-संपन्न गृहस्थ वृहद्दान-यज्ञों का आयोजन करते रहे हैं। पुरातन युग के सद्‌गृहस्थ, ऋषि-महर्षि – अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र यमदग्नि, अङ्गिरस, भारद्वाज, वशिष्ट, काश्यप आदि सभी दान के महायज्ञ रचाते रहे हैं। पूर्वकाल में महाराज वेस्सन्तर और पश्चात्काल में महाराज हर्ष जैसे महादानी सर्वस्व दान का उच्च आदर्श स्थापित करते रहे हैं। उनकी दानचेतना बड़ी उदात्त होती थी। सब की दानचेतना वैसी ही उदात्त होनी चाहिए, निर्मल होनी चाहिए। समाज की विशिष्ट रचना-व्यवस्था के कारण प्रजा का धन राजाओं और धनपतियों के पास संग्रहीत होता रहता है। यह धन एक जगह संग्रहीत ही रहे तो रुके हुए जल के समान सड़ने लगता है। सारे राष्ट्र को अस्वस्थ बनाता है। बहते नीर की तरह आता रहे और जाता रहे तो इसकी निर्मलता बनी रहती है। यही समझ कर, दान देने वाला, अनुचित परिग्रह के दोष से बचने के लिए, अपने संग्रहीत धन को राष्ट्र का धन मान कर **संविभाग** के हेतु दान देता था ताकि इस एकत्र हुए धन का सब लोग बांट कर उपभोग कर सकें। यह साम्य बुद्धि सामाजिक समृद्धि का संतुलन बनाये रखती थी और उसे विषम हानि होने से बचाती रहती थी। संपन्न दाता अपनी धर्म-बुद्धि और कर्तव्य-बुद्धि से ही समय-समय पर धन का **संविभाग** करता रहता था। बदले में कुछ पाने की इच्छा से नहीं। औरों को हीन मान कर अपने अहंभाव की पुष्टि के लिए नहीं। यही दान की श्रेष्ठता थी। यही दान की शुद्धता थी।

'विचेय्य दानं दातब्बं, यत्थ दिन्नं महप्फलं।

–धर्म बुद्धि द्वारा भली-भांति सोच समझ कर दिया गया शुद्ध दान महाफलदायी होता है। अतः हम भी धर्मबुद्धि द्वारा सोच समझ कर ही दान देना सीखें।

दान दो प्रकार के होते हैं –

१. वट्टमूलक दान याने भवचक्र में उलझाए रखने वाला दान।

२. विवट्टमूलक दान याने भवचक्र से बाहर निकाल देने वाला दान। सही धर्मचेतना वाला व्यक्ति भवचक्र से छुटकारा दिलाने वाला दान ही देता है। भवचक्र में बांधने वाला नहीं।

जैसे अन्य सभी कर्म वैसे ही दान-कर्म भी चित्त की चेतना से ही अच्छा-बुरा आंका जाता है। चित्त की जैसी चेतना होती है वैसा ही कर्म-बीज होता है और उसी के अनुरूप प्रकृति फल पैदा करती रहती है। भवचक्र को काटने वाला विवट्टमूलक चित्त राग-विहीन होता है, द्वेष-विहीन होता है, मोह-विहीन होता है। ऐसे चित्त से दिया गया दान ही विवट्टमूलक दान होता है। लोकचक्र को छिन्न-भिन्न करने वाला होता है। ऐसा दान देते हुए हम अपना किंचित भी स्वार्थ नहीं देखते। दान पाने वाले का हित-सुख देख कर मुदित होते हैं। जब हम औरों के मोद से मुदित होते हैं तो हमारा चित्त निर्मल होता है, मृदुल होता है। स्वार्थपरक संकुचितता और कठोरता से मुक्त होता है।

लेकिन दान देते हुए जब हम स्वहित के लिए किसी फल की कामना करते हैं तो वह रागरंजित चित्त वट्टमूलक ही होता है, भवचक्र बनाने वाला ही होता है। ऐसी चेतना से दिया गया दान भवचक्र बढ़ाने वाला ही होता है। दान के फलस्वरूप लौकिक सुख-वैभव की कामना करें, कीर्तिपथ की कामना करें, मान-सम्मान की कामना करें, लाभ-सत्कार की कामना करें, स्वर्ग-अपवर्ग की कामना करें, तो इन कामनाओं से अभिभूत हुआ चित्त बंधनयुक्त ही होता है, बंधनमुक्त नहीं। इस दान का फल बांधने वाला ही होता है, खोलने वाला नहीं।

अतः रागरंजित चित्त से दान देना बुरा है परंतु उससे भी बुरा है द्वेष-दूषित चित्त से दान देना। वह तो हमारे लिए और भी अनर्थ का कारण बन जाता है। धर्म के नाम पर पाप कमाने वाली क्रिया हो जाती है। दिया गया धन तो खोते ही हैं, परंतु साथ-साथ अकुशल चित्त के आधार पर किया गया कर्म हमारे अमंगल और अकुशल का हेतु बनता है।

उदाहरणों से समझें कि हम द्वेषचित्त से दान कैसे देते हैं?

एक भिखमंगा मेरे दरवाजे पर खड़ा हो कर पुकार रहा है, "बाबा! पैसा दे, बाबा! पैसा दे"। मैं उसकी इस बार-बार की पुकार से झल्ला कर उसकी ओर पांच पैसे का सिक्का फेंकता हूं कि बला टले। उस समय मेरा चित्त क्रोध और घृणा से भरा होता है।

कुछ भाई किसी स्कूल, अस्पताल या आश्रम बनाने के लिए चंदा जमा करने मेरी दूकान पर आए हैं। उन्हें देखते ही मैं तमतमा उठा और बड़बड़ाने लगा – "चंदा, चंदा। जब देखो तब चंदा। दो मुनीमजी, इन्हें पांच रुपए और पिंड छुड़वाओ"। वह रुपए दिलवाते हुए, मेरा मन आक्रोश से भरा है। अप्रिय चंदा वालों से शीघ्र छुटकारा पाने के लिए व्याकुल है।

किसी मंत्री या राजनेता ने मुझे अपने घर या दफ्तर बुला कर कह दिया है कि अमुक चंदे में इतने रुपए देने होंगे। मुझे उस चंदे में जरा भी रुचि नहीं है। परंतु भय से भीत हूं। न दूंगा तो अगला कोटा, परमिट, लाइसेंस नहीं मिलेगा। मुझे किसी जांच में उलझा कर मेरा व्यापार चौपट कर दिया जायेगा। इस डर से दान देता हूं।

मेरे कल्याण मित्र ने कहला भेजा है कि इस काम में तुम्हें इतना दान देना चाहिए। मैं देना तो नहीं चाहता, परंतु लिहाज संकोच के मारे देता हूं।

मेरे अन्य भाइयों ने किसी काम में दान दिया है। मुझे उसमें दान देने की इच्छा जरा भी नहीं है। परंतु नहीं दूंगा तो मेरी प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा। लोकनिंदा होगी। इस भय से दान देता हूं।

मेरे प्रतिद्वंद्वी ने किसी क्षेत्र में इतना दान दिया है जिससे उसकी कीर्ति बढ़ी है। इससे मेरे मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उसका गर्व-भंजन करने के लिए और उसे नीचा दिखाने के लिए, अहंकार से चूर हो कर, मैं उससे अधिक दान देता हूं।

इस प्रकार क्रोध, झुंझलाहट, चिडचिडाहट, घृणा, भय, लिहाज, संकोच, प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या, वैमनस्य, दर्प, अभिमान आदि दौर्मनस्यतापूर्ण चेतना से मैं दान देता हूं और देने के बाद उसे याद कर के पश्चाताप करता हूं, मन मलीन करता हूं तो ऐसी दुर्मन-चेतना का दान मेरे लिए न केवल हितकारी ही नहीं होता, बल्कि मेरे अमंगल, अहित का भी कारण बनता है।

धर्मचेतना से किए गए सभी कर्म मंगलकारी हैं। अधर्म-चेतना से किए गए सभी कर्म अमंगलकारी हैं। अतः धर्मचेतना से दिया गया दान मंगलकारी है। अधर्म-चेतना से दिया गया दान अमंगलकारी है। इसलिए सदा धर्मचेतना से ही दान दें। धर्मचेतना से दिए गए दान में चित्त त्यागभाव से भरा होता है। परहित, परसुख के मोदभाव से भरा होता है। त्रैकालिक प्रसन्नता से भरा रहता है।

दान देने के पूर्व मन में ऐसे ही मोदकारी भाव जागते रहते हैं कि मैं दान दूंगा। मेरे दान से कितनों का भला होगा! कितनों का कल्याण होगा! दान देते समय भी मन इन मुदित भावों से ओतप्रोत रहता है कि मैं दान दे रहा हूं! गृहस्थ धर्म का पालन कर रहा हूं! मेरे इस दान से ग्रहीता का हितसुख होगा! अन्य अनेकों का भी इससे हितसुख होगा! दान देने के पश्चात भी मेरा मन बार-बार इन्हीं शुभ भावों से उर्मिल होते रहता है कि अहो! मैंने उत्तम भोजन का दान दिया जिसे खा कर, उत्तम वस्त्र का दान दिया जिसे पहन कर, उत्तम दवा का दान दिया जिसे ग्रहण कर; ग्रहीता शरीर और मन से स्वस्थ सबल होगा और शील, समाधि, प्रज्ञा का अभ्यास कर अपना मंगल साधेगा और अनेकों के मंगल का कारण बनेगा! मैंने इस कुटिया का दान दिया, जिसमें रह कर साधक शील, समाधि, प्रज्ञा का अभ्यास करेगा! समथ और विपश्यना साधना भावना का अभ्यास कर निर्वाण रस की सुख-शांति का आस्वादन करेगा और अनेकों की सुख-शांति का कारण बनेगा! मेरे दान का ग्रहीता कोई जीवन्मुक्त अरहंत हो अथवा अरहंत-पथ का अनुगामी कोई धर्मभावी संतपुरुष ही हो, तो मेरा मन असीम आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठेगा – अहो! मेरा सौभाग्य है, मेरे दान से ऐसा संतपुरुष कुछ काल तक और सबल स्वस्थ रह कर जीयेगा और इससे कितनों का कल्याण होगा! इसने मेरा दान स्वीकार कर मुझ पर असीम अनुकम्पा ही की है!

इस प्रकार दान देने के पूर्व भी, देते हुए भी और देने के पश्चात भी दायक अपने चित्त को निर्मल प्रसन्नता से भरता है और उसे मंजुल बनाता है।

पुब्बेव दाना सुमनो, ददं चित्तं पसादये।
दत्वा अत्तमनो होति, एसा यञ्ञस्स सम्पदा॥

(अङ्गुत्तरनिकाय २.६.३७, छळङ्गदानसुत्तं)

दान देने वाला, देने के पूर्व सुमन होता है, देते हुए चित्त को प्रसन्न-प्रसाद रस से भरता है और देने के बाद चित्त मुदित करता है। ऐसी है धर्मचेतना वाले दान-यज्ञ की सुख-संपदा। ई

मंगल मित्र,
स. ना. गो.

दीर्घ शिविर के साधकों के उद्गार

अहमदाबाद के श्री मणिभाई परीख लिखते हैं – "चौबीस वर्ष पूर्व अहमदाबाद में पहला विपश्यना शिविर लेने के पश्चात बीच में नियमित अभ्यास की कड़ी टूट गयी थी। परंतु दूसरे शिविर के बाद पुनः अभ्यासरत हो गया और धीरे-धीरे दीर्घ शिविर करने के लायक हुआ। इस शिविर में प्रवेश देने के लिए आप का अत्यंत आभारी हूं। इस शिविर में पिछले सभी शिविरों की तुलना में जो अभूतपूर्व लाभ हुए उनका वर्णन करना कठिन है। शिविर के मुख्य अनुभव इस प्रकार रहे –

शिविर में कभी मायूसी नहीं आयी। एक-दो बार प्रकाश और सुगंध का अनुभव हुआ। उपचार समाधि अधिक पुष्ट हुई। धारा-प्रवाह की व्याख्या और उसकी गहनता का साक्षात्कार हुआ। आनापान और विपश्यना विधिवत कर पाया। प्रवचन-श्रवण बहुत ध्यानपूर्वक संभव हो पाया। संवेदना की सूक्ष्म जानकारी होने के पश्चात ही 'अनित्यबोध' की भावना दृढ़ होती है, ऐसा आभास हुआ। समता खूब पुष्ट हुई।

शिविर के दौरान नीवरणों का भी जोर रहा। पीठ-दर्द के कारण सामूहिक साधना में व्यवधान होने के बावजूद भी विपश्यना की दो घंटे की बैठक में दर्द स्वतः समाप्त हो गया। कुछ बैठकों में शरीर के अंदर और बाहर तीव्र गर्मी का अहसास कषायों की निर्जरा के प्रतीक लगे। उपचार समाधि के समय विचार तो आते, परंतु नाक के नीचे संवेदना की सतत जानकारी बनी रहती थी।

भावी दिनचर्या के अन्तर्गत प्रतिदिन तीन घंटे का नियमित अभ्यास, रविवारीय सामूहिक साधना और एक दिवसीय शिविर में भाग लेना निश्चित किया हुआ है। अब प्रतिवर्ष आचार्य स्वयं शिविर या ३० अथवा ४५ दिन के शिविर में भाग लेते रहने की इच्छा बलवती हुई है। इसी प्रकार अनेकों का मंगल हो!"

साधकों के उद्गार

गांधीनगर के ६३ वर्षीय श्री सत्यमित्र सोनवणे लिखते हैं – "दस दिवसीय पहला शिविर अहमदाबाद में पूरा किया।जीवन जीने का सही रास्ता मिला। सचमुच कल्याण हो गया। १९५३ से तम्बाकू की आदत थी जो शिविर के दौरान त्यागने के पश्चात सदा के लिए समाप्त हो गयी। वर्षों से आधासिर का दर्द रहता था, वह भी दूर हो गया। अब बड़े आराम की नींद आती है। सभी दुखियारों को सही रास्ता दिखाने वाली इस महान विद्या से सब का मंगल हो!"

राजकोट के बहुत पुराने साधक श्री राजूभाई मेहता लिखते हैं – "मैं और मेरा पूरा परिवार सभी विपश्यी साधक हैं। सभी ने ४-६ शिविर किये हैं और घर में नियमित अभ्यास करते हैं। फिर भी जब से हम **सामूहिक साधना** और प्रत्येक महीने में लगने वाले **एक दिवसीय शिविर** में बैठने लगे हैं, इसका अपूर्व लाभ अनुभव कर रहे हैं। पहले लगता था कि इतनी दूर जाने-आने में घंटो क्यों बरबाद करें। परंतु गुरु-भाई बहनों के साथ साधना करने का लाभ ही कुछ और होता है। वैसे भी हम पूरे दिन भर में न जाने कितने घंटे बरबाद करते हैं, जिसका हमें होश भी नहीं रहता। मेरे एक परिचित मित्र बहुत पहले एक शिविर किए थे। साधना में नियमितता नहीं थी। जब उन्होंने सुना कि सामूहिक साधना होती है तो उत्साहपूर्वक उसमें शामिल होने लगे। अब तो महीने में एक दिन का शिविर और दैनिक साधना में भी नियमित हो गये। ऐसे ही अन्य स्थानों पर भी सामूहिक साधना तथा एक दिवसीय शिविरों से लोग लाभान्वित हों, यही मंगल कामना है।"